

‘आखिरी कलाम’ उपन्यास में विचारात्मक संघर्ष

डॉ.जोगिन्द्र कुमार यादव

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (इग्नू)

क्षेत्रीय केन्द्र, चण्डीगढ़

शोध संक्षेप

प्रस्तुत शोध पत्र उपन्यास ‘आखिरी कलाम’ में विचारात्मक संघर्ष को दर्शाता है। इसमें उपन्यासकार की व्यक्तिगत पीड़ा के साथ-साथ सामाजिक सरोकार, धर्म तथा राजनीति का चित्रण भी दिखाया गया है। ‘आखिरी कलाम’ जहां सामाजिक विलगाव और अल्पसंख्यकों की त्रासदी का दस्तावेज है, वहीं इसमें सत्ता की होड़ में राजनैतिक पार्टियों का असली चेहरा जनता के सामने आता है। लेखक एक तरफ कार सेवकों के क्रिया कलापों को रेखांकित करता है और उससे जुड़े तमाम बिंदुओं का और दूसरी तरफ उन बौद्धिकों का उल्लेख करता है जिसमें तत्सत पांडेय हैं, विश्वविद्यालय, वामपंथ हैं, लोहिया और गांधीवादी हैं। अतः ‘आखिरी कलाम’ में संदर्भित यथार्थ को समझने के लिए सर्वप्रथम सामाजिक विलगाव के कारणों एवं कारकों के अध्ययन के साथ इसके परिणाम स्वरूप अल्पसंख्यकों की त्रासदी का अध्ययन भी आवश्यक है, जिसे रेखांकित करने का प्रयास उक्त पत्र में किया गया है।

प्रस्तावना:

प्रत्येक साहित्यिक कृति का एक विचारधारात्मक आधार होता है जो सामाजिक विकास की विशेष अवस्था में व्याप्त विचारधारा से प्रेरित और प्रभावित होता है। आलोच्य कृति का लेखक भी समकालीन समाज में व्याप्त हिन्दूत्ववादी विचारधारा के निहितार्थों से क्षुब्ध हो, एक नई विचारधारा की बात करता है, जिसमें मानवता सर्वोपरि है धर्म नहीं। लेखक का मानना है कि धर्म की वास्तविक भूमिका कभी भी सामाजिक विलगाव के लिए उत्तरदायी नहीं हो सकती, परन्तु जब निजी स्वार्थों के संदर्भ में धार्मिक क्रियाकलापों व मिथकों का इस्तेमाल किया जाता है तो धर्म का स्वरूप एक आयामी हो जाता है, जो इस बहुआयामी समाज के लिए घातक सिद्ध होता है।

दूधनाथ सिंह का उपन्यास ‘आखिरी कलाम’ चार खण्डों- ‘गृह जंजाल’, ‘प्रस्थान पर्व’, ‘देव श्मशान’ और ‘पुनश्च’ में विभक्त है। प्रथम तीन खण्डों के नायक आचार्य जी हैं और ये आचार्य जी की संघर्षशील जीवन यात्रा के तीन निर्णायक चरण हैं जिन्हें लेखक ‘समान्तर युद्ध’ के रूप में याद करता है। हम ‘युद्ध’ के स्थान पर संघर्ष का प्रयोग करें तो अधिक सटीक अर्थ प्राप्त कर सकेंगे, क्योंकि युद्ध शब्द से हिंसा की बू आती है और आचार्य जी तो हिंसा के विरुद्ध हैं, गांधी के समान, विरोधी हैं किंतु हिंसक नहीं। वे लड़ते हैं, किंतु विचारों से, लोगों से नहीं, क्योंकि वे समझते हैं कि लोगों की मानसिकता को ग्रस्त, कुंठित बनाने वाली एक विशेष विचारधारा समाज में फैलायी जा रही है। इस विचारधारा के निर्माता-निर्देशक हैं- कट्टर हिन्दुत्ववादी राजनीतिज्ञ, जो भारत को केवल एक हिन्दू राष्ट्र बनाना चाहते

हैं, चाहे इसके लिए कितने ही हिन्दुओं व अहिन्दुओं की बलि देनी पड़े। इस हिन्दुत्ववादी विचारधारा को धर्म की चादर में लपेटकर लोगों के दिलो-दिमाग को ढक दिया गया है, ताकि राजनीतिज्ञों के अपने स्वार्थ पूरे हो सके, और अब लोग भी हर मुद्दे को केवल धर्म का चश्मा पहनकर ही देखते हैं।

लेखक इस विचारधारा से टकराता है। इसके वर्तमान एवं भावी परिणामों को हमारे समक्ष रखता है, इन मूलगामी विचारों का त्याग कर प्रगतिशील बनने पर बल देता है। धर्म के वास्तविक अर्थ को तर्क के साथ समझने की गुजारिश करता है। इस साम्प्रदायिक माहौल में विश्वविद्यालय व मीडिया की भूमिका भी खोलकर हमारे सामने रखता है। किंतु उपन्यासकार सर्वाधिक मुखर है हिंदू धर्म की मनुष्य विरोधी ब्राह्मणवादी संरचना को बेपर्दा करने तथा धर्मनिरपेक्ष शक्तियों के उस पोले आधार को उजागर करने में जो उसकी विफलता के लिए जिम्मेदार हैं।

अयोध्या में कार सेवकों की आक्रामकता व बाबरी मस्जिद के ध्वंस पर धर्मनिरपेक्ष शक्तियों से लेखक का सीधा चुनौतिपूर्ण सवाल है। “कहां हैं तुम्हारे वर्ग-मुक्त मानस की जनता ? कहां हैं ? क्यों धर्म के नाम पर इस देश के सारे लोग ब्राह्मण हो जाते हैं ? यह मंदिर मस्जिद का सवाल नहीं...यह मनुष्य होने या न होने का सवाल है।” लेखक मानवतावाद को हर वाद एवं धर्म से ऊपर मानता है। प्रस्तुत शोध पत्र में उपन्यास को केन्द्र में रखकर मूलगामिता बनाम प्रगतिशीलता, धार्मिक चेतना व साम्प्रदायिक शक्तियों का सत्ता विमर्श जैसे मुद्दों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध पत्र उपन्यास 'आखिरी कलाम' की वैचारिक पृष्ठभूमि एवं लेखक के विचारात्मक संघर्ष जैसे महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डालता है। उक्त कृति में जहां लेखक का आत्मबोध और लेखकीय पीड़ा का रहस्योद्घाटन हुआ है वहीं लेखक के सामाजिक एवं धार्मिक सरोकार भी खुलकर सामने आए हैं। उक्त शोध पत्र में सर्वेक्षण विधि को अपना कर सामग्री एकत्रित की गई है।

मूलगामिता बनाम प्रगतिशीलता

परम्परा से ही भारत बहुजातीय व बहुधर्मी देश रहा है। आजादी के बाद कुछ अगुआ वर्गों ने हिंदू राष्ट्र जैसी संकल्पना को जन्म दिया और इसमें मानदण्ड निर्धारित किए गए। इसके अंतर्गत हिंदुत्व खतरे में है अतः धर्म, शास्त्र, मिथक, जाति, वर्ण, संस्कृति इत्यादि तत्वों को नहीं बचाया जाएगा तो भारत की संस्कृति, हिंदू संस्कृति नष्ट हो जाएगी। ऐसे में आरएसएस, बजरंग दल, शिवसेना तथा विश्व हिन्दू परिषद् जैसी संस्थाओं का जन्म होता है। इन संस्थाओं ने अपने से जुड़े लोगों को धर्म, शास्त्र, संस्कृति के पारम्परिक मानदण्डों से अतगत कराया, यही संस्थाएं आगे चलकर भारतीय जनता पार्टी के रूप में सामने आती हैं। इनका लक्ष्य है सत्ता पाना और सत्ता पाने के लिए वे धर्म का इस्तेमाल करते हैं। मूलगामी विचारधारा को समाज की मुख्य धारा बनाने का प्रयास करते हैं। यहां मूलगामिता के विषय में बात करें तो मूलगामिता एक ऐसी विचारधारा है जिसके अंतर्गत परंपरा, संस्कृति, धर्म जैसे शब्दों को केन्द्र में रखकर बात की जाती है, यानि यथास्थितिवाद को बनाए रखना ही मूलगामिता है।

मूलगामी व्यक्ति, संस्था या समाज के पारंपरिक ढांचे के अंदर परिवर्तन में विश्वास नहीं करता। उपन्यास के लेखक दूधनाथ सिंह का मानना है कि ये हिन्दूत्ववादी भारतीय मिथकों का गलत उपयोग कर, भारतीय संस्कृति की दुहाई देकर केवल अपना हित साधते हैं। परिणामस्वरूप हम देखते हैं कि एक तरफ जहां प्रादेशिक स्तर पर जातीय व धार्मिक हिंसा होनी शुरू हो जाती है, वहीं दूसरी तरफ अयोध्याकांड, गोधरा कांड जैसी घटनाएं भी खुलकर सामने आती हैं, इन सभी के केन्द्र में सत्ता को हथियाना है।

दूधनाथ सिंह एक प्रगतिशील रचनाकार हैं। वे वर्तमान से टकराते हैं और भविष्य के खतरे से चिंतित हैं। लेखक मूलगामी शक्तियों से टकराता है। आज के समय में जो चीजें, जो मान्यताएं, जो मिथक न सिर्फ अनुपयोगी बल्कि समाज के लिए घातक सिद्ध हो रहे हैं तो ऐसी मान्यताओं को तोड़ना चाहिए। उपन्यास 'आखिरी कलाम' मूलगामिता से प्रगतिशीलता की ओर बढ़ने का प्रश्न उठाता है। ऐसे में यह ठीक रहेगा कि प्रगतिशीलता के लक्षण के साथ-साथ लेखक द्वारा परंपरित ढांचे को तोड़ने की बात करते हुए चला जाए। इसके एक तरफ मूलपंथियों की सोच का भी खुलासा होगा और लेखक के प्रगतिशील उद्देश्यों को भी समझा जा सकेगा। आजादी के बहुत समय बाद अगड़ों-पिछड़ों की लड़ाई खुलकर सामने आती है और यहां से प्रगतिशीलता या समय की पहचान के साथ 'मनुष्य होने की शर्त' की बात उठने लगती है। चूंकि आधुनिक मनुष्य राजनीतिक मनुष्य है और राजनीति एक संस्था की तरह है, अतः प्रगतिशील मनुष्य के साथ प्रतिबद्धता का प्रश्न उठने लगता है। विचारधारा

में प्रतिबद्ध होना ही काफी नहीं है, उसकी पद्धति के अनुसार अनुभवों को निर्मित करना पड़ता है। 1947 की घटना, 1992 की घटना और गोधरा कांड, मुंबई कांड या मऊ जिले का कांड मुख्य धारा के लोगों का विषय नहीं बनता और अगर बनता भी है तो टुलमुल तरीके से ऐसे में उनकी प्रगतिशीलता पर प्रश्न चिह्न लग सकता है। व्याकुलता और पद्धति साहित्यकार को पक्षधर बना देती है, ऐसा साहित्य जो 'अनुभव' और 'मनुष्य' के स्वाघातों को ढकने-पोतने की कोशिश करता है, प्रगतिशील नहीं हो सकता। ऐसा विचारदर्शन भी जो स्वतंत्र व्याघातों की ऐतिहासिक सामाजिक संदर्भों से अलग तत्ववादी उपपत्तियों में ढकेलता हो, कभी प्रगतिशील नहीं हो सकता। दरअसल प्रगतिशीलता नाम रूपबद्ध अनुभवों और मनुष्य के उस व्यापार, प्रभाव परिणाम की समझ पर निर्भर करती है जो ऐतिहासिक क्रम और संदर्भ से प्रतिफलित हुई है और होती है। यानि मनुष्य और मानवीय अनुभव के ज्ञात और परिभाषित रूपों की ऐतिहासिक, सामाजिक संदर्भों में क्या भूमिका रही है या है। इसकी चेतना के बिना प्रगतिशीलता संभव नहीं है। अतः उपन्यास के संदर्भ में दूधनाथ सिंह और उसकी रचना की प्रगतिशीलता पर विचार करें तो स्थिति स्पष्ट हो जाएगी।

उपन्यास 'मैला आंचल' में काली टोपी वाले संयोजक अपनी बौद्धिक क्लास में रोज यह कहते हैं कि 'इस आर्यावृत में केवल आर्य अर्थात् शुद्ध हिन्दू ही रह सकते हैं। यवनों ने हमारे आर्यावृत की संस्कृति, धर्म, कला, कौशल को नष्ट कर दिया। अब हिन्दुस्तान मलेच्छ संस्कृति की पुजारी हो गई है। शिवाजी, महाराणा प्रताप साथ ही वासुदेव 'बौद्धिक क्लास' को 'बुद्ध क्लास' कहता

हैं। दरअसल यह 1954 की रेणु की प्रगतिशीलता है जिसमें वे जनसंघ के संघटनात्मक स्वरूप को हंसी-खेल में ही सामने रख देते हैं। इसी बुद्ध क्लास ने अपनी आर्य संस्कृति को केन्द्र में रखकर 6 दिसम्बर 1992 का कांड करवाया है। करने वाली आम जनता है लेकिन निर्देशक वही लकीरी लोग। लेखक दस साल बाद इस घुटन को साफ-साफ कहने की शक्ति अर्जित करता है। आरएसएस व इस तरह की अन्य संस्थाएं जो धर्म, शास्त्र या परंपरा को नष्ट होने में अपनी संस्कृति के नष्ट होने की संभावना दिखाई पड़ती है। एक तरफ लोगों के खानपान, रहन-सहन, पहनावा-ओढ़ावा, गीत-संगीत उसे पश्चिम की नकल लगता है और दूसरी तरफ स्वच्छंद प्रेम में संस्कृति के मूल नष्ट होने का अंदेशा हो जाता है। ऐसे में उनकी धार्मिक कुंठा इतनी बढ़ जाती है कि वे परिवर्तन की जगह पर परंपरा को लादने की कोशिश करने लगते हैं। (मजनु आपरेशन, वैंलैटाइन डे पर लड़के-लड़कियों को पीटना, जीन्स के पहनावे को बुरा मानना इसके उदाहरण हैं)। लेखक इन दकियानूसी विचारों को त्यागने पर बल देता है और प्रगतिशील होने की बात करता है।

धर्म का राजनीतिकरण

संघ ने एक ऐसे हिन्दू का आविष्कार किया है जो हिन्दू परंपरा की तमाम अच्छाइयों को मटियामेट कर देना चाहता है। साथ ही धर्म उपभोक्ता वस्तुओं में रूपांतरित हो जाता है, वह जीवन दृष्टि और मूल्यों का स्रोत नहीं रह जाता। उसका नवजागरण से सारा संपर्क टूट जाता है। धर्म का 'नवजागरण' से संबंध तोड़ने में जितनी भूमिका राजनीतिकरण की है, उससे कम बाज़ारीकरण की नहीं है। सचमुच नित नये अक्षरधामों का बनना

और उसके संचालक ब्राह्मणों को रखना, लगता है एक बार फिर मध्यकालीनता के सारे लक्षण सामने हों। लेखक का यह पूरा उपन्यास कट्टर राजनीति से उद्वेलित कट्टर हिन्दुत्व के विरुद्ध विद्रोह करता हुआ सहज गतिशील धर्म की वकालत करता है।

“इस वक्त, ओर अब हमेशा के लिए आगे भी हजारों पंडे। अनेकों आनन्द। अनेको दास। अनेकों शंकराचार्य। अनेकों महंत। अनेकों गिरी गोसाईं। अनेकों नहाए-धोए, खाए-पिए मुस्टंडे। अनेकों अखाड़े। अनेकों पहलवान। हत्यारे सिद्ध। अनेकों डकार और वृत् और गोबर गणेश। अनेकों क्षीरशायी। अनेकों अघोरी। खोपड़ी में अनेकों मसान-उर्जस्वित, बलशाली, विचारवान। अनेकों बैकुंठ और गढियां और गदियां और भवन और रसोई और सुख सुविधा सम्पन्न-महान। इतने पंडे और सभी एक साथ। कोई प्रतिपक्ष नहीं ? न कोई न्याय, न कानून, न संविधान, न बचाव पक्ष ? मन ही मन सभी मगन ? सिर्फ एक आतंक, जिसकी टेढ़ी आंख सता की ओर। चाहे इधर से, चाहे उधर से। भारत में उपनिवेशवाद की लंबी परंपरा है। शायद इसी को देखकर अंग्रेज इतिहासकार मानते हैं .भारतीयों का अपना इतिहास नहीं रहा है और अगर रहा भी है तो केवल जादू टोने वाला।

दूधनाथ सिंह इतिहास के एक छोर से दूसरे छोर तक अध्ययन करते हैं। एक तरफ अंग्रेजों का उपनिवेशवाद और आम जनता और दूसरी तरफ आजादी के बाद अनौपनिवेशवाद में आम जनता का दुख व समस्याएं। लेखक साफ देखता है कि जिन असमानताओं को लेकर आजादी की लड़ाई लड़ी गई थी वही असमानताएं एक बार फिर पुनः समाज में अपनी पैठ बना रही हैं। चारदीवारी का

अधिकांश भाग टूटते ही मस्जिद का उतरी फिर बीच वाला और फिर दक्खिनी गुम्बद जरा-जरा से अंतरालों में, लेकिन जैसे एक ही साथ भीतर की ओर धसक गए। उनके संग-संग गुम्बदों में गढ़े कार सेवक और सुथन्नेवाला मोटा ललमुंहा बंदर उसके मलबे के भीतर समा गए। दो दशमलव सतहतर एकड़ और उसके नीची रामदीवार परिसर में भरी मस्तिष्क विहीन मुन्डियो ने परमानन्द में लहराकर चीत्कार किया- जै...श्री रा...म।

यह जो मंदिर तोड़ता है और खुद भी उसी में नष्ट हो जाता है, यह स्वयं उसका फैसला या दृष्टिकोण या दिशा नहीं है, ऐसा उससे करवाया जा रहा है। 'राम' जैसा मिथक आम जनता को एक अंधी दौड़ में शामिल कर देता है। इस अंधी दौड़ के दृष्टा हैं तत्सत पांडे, सर्वात्मन और बिल्लेश्वर और न जाने कितने लोग। उनके वक्तव्यों के भीतर से जो मनुष्य का स्वरूप निकलता है वह उतर औपनिवेशिक मनुष्य को तोड़कर नया मनुष्य बनने की ओर संकेत करता है। जवाहर लाल (एक बौद्धिक राजनीतिज्ञ) का यह वक्तव्य है कि 'अहम मसला ये है कि हिन्दोस्तान के अवाम को दिमागी गुलामी को उतार फेंकना होगा। आजादी का असली मकसद इंसान का खुला दिमाग होना है ताकि वो चीजों को गौर से देख समझ सके। हर मसले की तह तक पहुंचने उसे हल करने की काबलियत होना निहायत जरूरी बातें हैं। नहीं तो हम फंस जाएंगे। ये जो धरम और जात-पात है, ये जो ऊंच-नीच का भेदभाव है, ये जो समाजी अहमकाना का शिकार हैं, ये सब बंद होनी चाहिए। ये सब बातें इंसान को तंग-दिमागी का शिकार बनाती हैं। ये जो खुराफातें होती हैं, जो इंसान को इंसान से अलहदा करती हैं, जो उसकी आंखों और दिल में

नफरत का, गुस्से का काला धब्बा डालती हैं, ये जो ढांग बनावट हैं, बदनीयती है, मोतबरी है, ये जो बुर्जुवा बददिमागी और ऐश-ओ-आराम की तलब है, इसे खत्म होना ही पड़ेगा और हमारे ये नौजवान ये नई नस्ल इसकी मिसाल कायम करे।'

दूधनाथ सिंह का 'आखिरी कलाम' अपने पूरे अतीत और वर्तमान बोध के साथ यह दावा करता है कि जब तक धर्म के ढांचे को तोड़ा नहीं जाएगा जब तक धर्म सत्ता के साथ रहेगा तब तक भारतीय समाज वही उपनिवेशवादी स्थितियों में रहेगा। तत्सत पांडे को लगता है कि -सारी संरचनाएं ढहती हैं सर्वात्मन।' ..हमें स्वर्ग द्वार नहीं चाहिए। यह देवताओं और ईश्वर का श्मशान है और मैं आदमी हूं। आदमी बने रहने के लिए ही लेखक उन धार्मिक तंत्रों को तोड़ता है और मनुष्य के औपनिवेशिक मानसिकता को साफ-साफ रखकर उसका स्पष्टीकरण देता है कि अगर यही मानसिकता समाज संचालन का रहा जो मंदिर-मस्जिद तोड़ने में ही अपनी पूरी शक्ति लगा देगी तो फिर सामाजिक सारतत्व का प्रश्न ही गायब हो जाएगा। लेखक बड़ी आत्मीयता के साथ मियां साहब के साथ बैठता है और अंत में 'वे दोनों उठे और बगिया और उन खंडहरों से होते हुए सूखे नाले में गुम हो गए।' ...यह गुम हो जाना सामान्य घटना नहीं है। जब तक अचेतानंद जैसे लोग हिन्दू राष्ट्र की कल्पना करते रहेंगे तब तक ऐसे ही लोग गुम होते रहेंगे। वे इतिहास में कभी दर्ज नहीं होंगे। दर्ज वही होगा जो दिखता है।

उपन्यास पढ़ते हुए कई बार 'अंधेर नगरी चैपट राजा' वाली स्थिति दिखायी पड़ी। भारतेन्दु का यह 'अंधेर नगरी' दर्शकों के लिए था जबकि

दूधनाथ सिंह का 'आखिरी कलाम' पाठकों के लिए है। उत्तर उपनिवेशवाद पर विचार करते वक्त ऐसा लगता है कि अंधेर नगरी का पात्र 'आखिरी कलाम' से मेल खाते हैं। दोनों ही स्थितियों में समाज परिवर्तन की ललक है, एक राजा को सूली पर चढ़ा देती है अर्थात् सत्ता पलट देती है और दूसरा सत्ता के माध्यम से जनता को पलट देती है। फिल्मी अंधेरगर्दी दोनों ही स्थितियों में है। यहां अंधेर नगरी की तुलना करने के पीछे एक मात्र कारण यही था कि भारतेंदु जिस समाज परिवर्तन की बात साहित्य के माध्यम से उपनिवेशवाद के दौर में कर रहे थे उसी समाज परिवर्तन की बात दूधनाथ सिंह भी कर रहे हैं, फर्क यही है कि इनके पास उनके अधिक नई तकनीक है, शायद इसलिए अधिक 'उत्तर' दिखते हैं।

राजनीति का धर्म और धर्म की राजनीति वर्ण व्यवस्था पर आए खतरे को टालने के लिए राम भक्ति का जुनून खड़ा किया गया और इसमें कांग्रेस और संघ परिवार में होड़ हुई। कांग्रेस ने बाबरी मस्जिद का ताला खुलवाया, फिर राम राज्य की घोषणा के साथ मंदिर का शिलान्यास कराया, ताकि वह हिन्दुओं से अधिक से अधिक वोट पा सके, उनकी संकीर्ण मानसिकता से लाभ उठा सके। आखिरकार बाजी जीती संघ परिवार ने जिन्होंने सत्ता पर अपना एकाधिकार पाने के लिए बाबरी मस्जिद को गिरा दिया, और राम को कांग्रेस के हाथों से छीन लिया। 'आखिरी कलाम' के केन्द्र में यही धर्म के नाम पर की जाने वाली कुंठित राजनीति है, छल है। लेखक ने दिखाया है कि किस तरह सत्ता हथियाने के राजनैतिक पार्टियां साम्प्रदायिकता को अपना हथियार बनाती हैं और धर्म को अपना आवरण।

लेखक एक ओर जहां कांग्रेस, भाजपा, कम्युनिस्ट पार्टियों का उल्लेख कर उनके निहितार्थ को भी रेखांकित करते हैं, वहीं दूसरी तरफ इन निहितार्थों पर तत्सत पांडेय जैसे बौद्धिक का स्थितियों पर व्यंग्य भी दिखाया गया है। आचार्य जी कहते हैं कि 'सभी को भला भला लग रहा है। सिर्फ जिन पर विपत्ति है, उन्हीं को छोड़कर। सभी एक दूसरे के लहू के प्यासे, और उचारेंगे धर्म निरपेक्षता। कोई यह क्यों नहीं कहता कि सभी धर्म धोखे की टट्टी है। उसकी आड़ में कौन झाड़ा फिर रहा है और क्यों फिर रहा है।' इस कौन और क्यों की पहचान तभी संभव है जब हम हिन्दू और मुसलमान से ऊपर उठकर सोचें, धर्म के विषय में कम और मानवता के विषय में अधिक। धर्म की आड़ में गंदगी फैलाने वालों की पहचान लेखक भी करता है, और उसके परिणाम की ओर भी संकेत करता है। लेखक ने साफ तौर पर कहा है कि जब तर्क की जगह पर शास्त्र या धर्म को रख दिया जाएगा तो उस समाज की प्रगतिशीलता पर प्रश्नचिह्न लग जाएगा। संघ परिवार के राजनीतिक निहितार्थों को समझते हुए लेखक उन अल्पसंख्यकों के बारे में चिंतित हैं, जिसमें केवल मुसलमान ही नहीं आते, वरन् गांव के गरीब किसान भी हैं, जिनकी फसलों को कार सेवकों ने नष्ट कर दिया, स्त्रियां एवं बालक भी हैं, वृद्ध भी हैं, सभी सत्ता का शिकार हैं क्योंकि एक तरफ मुख्यमंत्री की संन्यासी उद्घोषणा थी कि 'मैं कार सेवकों पर गोली नहीं चलवाऊंगा और त्रिमूर्तियों की फोटू थी, जिसके नीचे शीर्षक था बर्दाश्त से बाहर ? बर्दाश्त से बाहर.... जैसे तुम खुदा हो या न्यूक्लियर बटन पर तुम्हारा हाथ है कि धरती उड़ा दोगे ? क्या हो तुम कानाफूसी करके जनता को ठगने वाले

राष्ट्रीय चैटों के संगठित गिरोह ? इसके अलावा क्या हो तुम ? और लानत ऐसी जनता पर जो समझती नहीं ? वहीं दूसरी तरफ कांग्रेस भी इसका वोट बैंक के रूप में फायदा उठाना चाहती है। यह कितनी विडम्बनापूर्ण स्थिति है कि 'राम दीवार के भीतर पूरे परिसर को खाली कर दिया जाएगा। माइक पर बार-बार इसकी घोषणा हो रही थी, लेकिन यह घोषणा तब हो रही थी जब आपने (सत्ताधारियों ने) 'टाइम बम' रख दिया हो। तीन लाख कार सेवक ही वे टाइम बम थे।' और उनको नियंत्रित करने वाला कहीं दूर सजे कमरों में बैठा था और अपनी स्वार्थपूर्ति, सत्ता की हवस पूरी होने के लिए इस टाइम बम के फटने का इंतजार कर रहा था।

लेखक इन कमरों में बैठे लोगों की पहचान करता है, इनका मूल उद्देश्य हमारे सामने लाने का प्रयास भी करता है, और साथ ही यह भी संकेत देता है कि राजनेता अगर साम्प्रदायिक दंगों के माध्यम से सत्ता प्राप्ति के लिए जनता में बिखराव उत्पन्न करेंगे तो उसका नतीजा बेहद खतरनाक होगा। अयोध्या कांड, गोधरा कांड, मऊ कांड इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। 'हिन्दुत्व का यह पूरा संघर्ष ही एक घटिया और संस्कृति विहीन स्तर पर चलाया जा रहा है ? ध्यान देने की बात है कि राम मंदिर की शुरुआत जिस गुपचुप, तदर्थवादी और कहते कुछ हैं, करते कुछ हैं कि कूटनीतिक शैली में की गई है, लगभग वही चरित्र भारतीय जनता पार्टी और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के तथाकथित राष्ट्रीयतावादी प्रचार का रहा है, उसके भावनात्मक उभार के केन्द्र में मुस्लिम विरोध रहा है किंतु वे इसे इस तरह-तरह से घुमाकर और पेचदार बनाकर पेश करते हैं जैसे ये

लोकतंत्र और समानता का कोई सैद्धांतिक मामला हो।'

अयोध्या में भी यही राजनीतिक दांवपेंच द्रष्टव्य हैं, विभिन्न धार्मिक क्रियाकलापों व मिथकों का इस्तेमाल कर एक विशाल जनसमूह को भ्रमित कर बाबरी मस्जिद को तुड़वाना एक राजनीतिक कृत्य था, जिसे धार्मिक जामा पहचाना गया। इसके केन्द्र में केवल कट्टर हिन्दुओं की वोट हासिल करना, अपनी सत्ता बनाने का प्रयास था। 'लोकतंत्र में राजनैतिक दलों की शक्ति वोट से बनती है। इसलिए हर राजनैतिक दल अपना वोट बैंक बनाने की कोशिश करता है, इसमें कोई बुरी बात नहीं है, आखिर लोकतंत्र की प्रणाली के अन्तर्गत विश्व में अब तक जितने भी अच्छे काम हुए हैं जैसे (अश्वेतों की बराबरी के अधिकार, स्त्रियों की समानता का अधिकार, मजदूरों की स्थिति में सुधार) वे वोट के आकर्षण के कारण ही हुए हैं।' बुरी बात तब होती है जब वोट बैंक बनाने के लिए राजनीति धर्म के आगे घुटने टेक देती है, धर्म के झूठे आडम्बरों, मिथ्या इतिहास से जनता को भ्रमित करने का प्रयास करती है और साम्प्रदायिकता फैलती है। भारत वर्ष के सभी नागरिकों की समता, स्वतंत्रता, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, न्याय के लिए मूलभूत मूल्यों की रक्षा करना राज्य की प्राथमिक जिम्मेदारी है और यदि धार्मिक सम्प्रदाय इनके आड़े आते हैं तो राज्य का फर्ज बनता है कि धार्मिक तत्वों से इनकी रक्षा करें। राज्य अपने इस फर्ज को तभी बखूबी निभा सकता है जब राज्य के उच्च पदों पर काम करने वाले लोग धार्मिक निष्ठा को निजी स्वार्थों को संविधान की निष्ठा से ऊपर न होने दें।

‘आखिरी कलाम’ अपने समग्र कलेवर में एक वृहत उपन्यास है जिसका समय मात्र छः दिन का है। लेकिन यह छः दिन कितने यथार्थों को समेटे हुए हैं इसका अंदाजा उपन्यास के तेवर से ही लग जाता है। भारतीय पारंपरिक व्यवस्था के अनुसार मस्जिद टूटना है और मंदिर बनना है। अतः एक आस्था तोड़कर दूसरी आस्था की स्थापना करना है। बस इतनी-सी बात है। परंतु बात इतनी नहीं है। बात उस प्रक्रिया की है जिसके अन्तर्गत इतना बड़ा परंपंच रचा जाता है, और उस परंपंच में पूरा देश उलझता है। सवाल केवल मस्जिद गिरने का नहीं है, सवाल मंदिर-मस्जिद बनने-गिरने के बाद की स्थितियों का है। लेखक इस यथार्थ की पहचान करता है क्योंकि वह स्वयं स्वीकार करता है कि ‘मैं इस सफरनामा का एक सदस्य हूँ- सर्वात्मन।’

अपनी सम्पूर्ण औपन्यासिक संरचना में ‘आखिरी कलाम’ हिन्दू फासीवादी खतरे की पृष्ठभूमि में एक ऐसी जीवंत जिरह है जो धर्म, धर्म निरपेक्षता, जनतंत्र, मीडिया, मुसलमान व वामपंथ से लेकर लोहियावादी राजनीति तक का विस्तार लिए है। लेकिन दूधनाथ सिंह सर्वाधिक मुखर है। हिन्दू धर्म की मनुष्य विरोधी ब्राह्मणवादी संरचना को बेपर्दा करने तथा धर्म निरपेक्ष शक्तियों को उसके पोले आधार को उजागर करने में जो उसकी विफलता के लिए जिम्मेदार हैं। एक तरह मस्जिद विध्वंस तो दूसरी तरफ विश्व विद्यालयी संदर्भ भी है और इस संदर्भ के साथ जुड़े हुए हैं मानवपात्र तत्सत पांडेय, सर्वात्मन, विश्वलेश्वर, गायत्री, जीमल, अचेतानंद इत्यादि।

6 दिसम्बर 1992 को जिन कार सेवकों ने बाबरी मस्जिद को मटियामेट किया वे कोई भावनात्मक या आस्थावान लोग नहीं थे। न उन्हें अयोध्या में

इकट्ठे करने वाले लोग ऐसे थे। कार सेवक वे अवसरहीन तथा शिक्षा एवं ज्ञान से वंचित लोग थे, जिन्हें हमारी मौजूदा व्यवस्था ने ही पैदा किया है। लेखक की पीड़ा का मुख्य कारण यही है। इस व्यवस्था को तोड़कर ही मनुष्यता की वकालत की जा सकती थी। लेखक एक तरफ कार सेवकों के क्रिया कलापों को रेखांकित करता है और उससे जुड़े तमाम बिंदुओं का और दूसरी तरफ उन बौद्धिकों का उल्लेख करता है जिसमें तत्सत पांडेय हैं, विश्वविद्यालय, वामपंथ है, लोहिया और गांधीवादी हैं। अतः ‘आखिरी कलाम’ में संदर्भित यथार्थ को समझने के लिए सर्वप्रथम सामाजिक विलगाव के कारणों एवं कारकों के अध्ययन के साथ इसके परिणाम स्वरूप अल्पसंख्यकों की त्रासदी का अध्ययन भी आवश्यक है।

उपन्यासकार दूधनाथ सिंह की दुनिया विचारधारात्मक लेखक की दुनिया है। उनकी आस्था मार्क्सवाद में है, किंतु उसके प्रति अंध भक्ति नहीं है। लेखक का व्यक्तित्व स्वतंत्र चिंतन और मौलिक मेधा से निर्मित है। दूधनाथ सिंह की किताबें पढ़ते हुए बराबर यह लगता है कि वे आदतन कलम नहीं पकड़ते। वे कविता लिखें, कहानी लिखें, नाटक या संस्मरण जो भी लिखें, विधाओं की शुद्धता का परिपालन उनके लिए नामुमकिन है, क्योंकि वे लिखते नहीं, तोड़-फोड़ करते हैं। उनके स्वभाव में ही संरचना की उथल-पुथल है। दरअसल ‘आखिरी कलाम’ केवल 6 दिसम्बर 1992 की घटना का दस्तावेज नहीं है। यह आगामी घटनाओं का सूचना-पट्ट भी है, जिस सूचना-पट्ट पर साफ-साफ लिखा है कि जाति, धर्म, संस्कृति या मौटे तौर पर परंपरा किसी भी राष्ट्र निर्माण के लिए घातक है, क्योंकि

भारत जैसे बहुआयामी देश में किसी एक जाति, धर्म या परंपरा को सम्पूर्ण देश पर लादा नहीं जा सकता। मनुष्यता की पहचान और इस पहचान की पीड़ा-बोध लेखकीय आत्ममंथन को तैयार करती है और लेखक वर्तमान से टकराकर भविष्य निर्माण की बात करता है। वह धर्म की तथाकथित भूमिका को नकारता है, ईश्वर को नकारता है। वह मानता है कि तत्कालीन फासिस्ट शक्तियों ने भारतीयों के धार्मिक आग्रह को दुराग्रह में बदल दिया है, धर्म का ईश्वर को राजनीतिकरण कर साम्प्रदायिकता समाज में फैलायी जा रही है। वह मानता है मिथक अगर जड़ हैं और सामाजिक विघटन का कारण हैं तो समाज में उसकी जरूरत नहीं। यह उपन्यास बौद्धिकों पर भी प्रश्न उठाता है, क्योंकि यह भयानकता इसलिए और भी दुखदायिनी है कि बुद्धिमान लोग चुप हैं या फिर कुछ प्रतिबद्धता के नाम पर मुखर रहे हैं कि क्रांति के नाम पर सब कुछ उचित है। बुद्धिजीवियों की इसी अवसरपरस्त नैतिकता ने साम्प्रदायिक उन्मान को सता तक पहुंचाने का माहौल बनाया है। आज बाजार, मीडिया, भूमण्डलीकरण जैसी विचारधाराओं ने समस्त समाज को बपनी गिरफ्त में ले लिया है, अतः आज सवाल किसी परंपरा के नष्ट होने या किसी दूसरी परंपरा के निर्माण का नहीं है, सवाल है आदमी बने रहने का। इस मशीनी युग में मशीन की गतिविधियां आदमी तय करता है, लेकिन जब आदमी की ही गतिविधि को आदमी तय करने लगेगा तो आदमियत की बात कहां रह जाएगी, केवल अराजकता रह जाएगी।

निष्कर्ष

इन तमाम समस्याओं के मध्य 'आखिरी कलाम' केवल बाबरी मस्जिद, गुजरात दंगों, मुंबई व मऊ

की घटनाओं की ओर संकेत नहीं कर रहा है, वरन् वह संकेत कर रहा फासिस्ट शक्तियों के सता विमर्श की ओर कि जहां जिनकी संख्या ज्यादा होगी, वहीं सिकंदर बन जाएगा। लेखक सिकन्दर की अपेक्षा कबीर या निराला होने की बात करता है। समग्रतः यह कहा जा सकता है कि आज नकली धर्मनिरपेक्षता से काम नहीं चलेगा, न नकली बराबरीवाद से। सबके सामंजस्य (हिन्दु, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई व अन्य) और अपरिहार्य सौहार्द की बात करनी चाहिए और जहां कहीं कोई सताया जा रहा है या अनुचित रूप से दबाया जा रहा है, उसका पक्ष लेना चाहिए। भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष राज्य में सभी धर्म व धर्म के लोगों को सम्मान आदर व अधिकार मिलने चाहिए। मनुष्य मनुष्य का शत्रु नहीं है, परन्तु गलत शासन पद्धति के माध्यम से वह ऐसा हो जाता है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. दूधनाथ सिंह, 'आखिरी कलाम', राजकमल प्रकाशन, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2003
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् 2058
3. राजकिशोर, 'एक भारतीय का दुःख', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002
4. राजकिशोर, 'अयोध्या और उससे आगे', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1993
5. राजकिशोर, 'एक अहिन्दू का घोषणापत्र', प्रकाशन संस्थान, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002
6. डॉ. कृष्णदत्त शर्मा एवं डॉ. हरिमोहन शर्मा, 'साहित्य इतिहास और आधुनिक बोध', स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004
7. अभय कुमार दुबे, 'बीच बहस में सेकुलरवाद', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2005